सुलझाना होगा राष्ट्रभाषा का सवाल

समाज के संचालन के लिए भाषा अपरिहार्य है। भाषा से न केवल विचार की अभिव्यक्ति, पारस्परिक संवाद, ज्ञान का संरक्षण और पीढ़ियों के बीच संचार होता है, बल्कि स्वास्थ्य, न्याय, बाजार, व्यापार, शिक्षा और प्रशासन आदि कार्यों में भी भाषा का उपयोग अनिवार्य है। इन सारे कार्यों का जीवन में इतना अधिक महत्व है कि भाषा का होना हमारे अस्तित्व से एकाकार हो उठता है। कई बड़े-छोटे देशों का नाम उन देशों की भाषाओं से अभिन्न रूप से जुड़ा है। चीन, जापान, जर्मनी, फ्रांस, स्वीडन, इंग्लैंड आदि नाम मूलतः भाषाओं से जुड़े हुए हैं और समाज का जातिगत बोध और स्वाभिमान दर्शाते हैं। भाषा हमारे अनुभव जगत का समानांतर चित्रण करती चलती है और अमूर्त प्रतीकों की सहायता से एक प्रतिरूप खड़ा करती है जिसे ग्रहण करना सुकर होता है। साथ ही भाषा हमें दुनिया को देखने का एक नजरिया भी देती है। भाषा जो भी दिखाती या छुपाती है वहीं तक हमारी दुनिया भी विस्तृत या सीमित होती है। इसलिए भारतीय चिंतन में ठीक ही कहा गया-'सर्वं शब्देन भासते' अर्थात हमें सब कुछ शब्द से ही दिखता है। अपनी भाषा के उपयोग का अवसर यदि किसी व्यक्ति, समुदाय और समाज को सशक्त बनाता है तो उससे वंचित करना उस समाज को कई तरह से विपन्न भी बना देता है। यह सिलसिला लंबा चले तो समाज को असमर्थ बना देता है। इस तरह भाषाई भेदभाव आर्थिक-सामाजिक शोषण का एक सभ्य और सेक्युलर तरीका बन जाता है जिसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दूरगामी परिणाम होते हैं। भाषा की गुलामी के परिणाम पीढ़ी-दर-पीढ़ी संक्रमित होकर आगे चलते रहते हैं।

भारत की भाषाई स्थिति अपनी विविधता और उपलब्धियों के लिए विश्व के भाषा विद्वानों के लिए किसी चमत्कार से कम नहीं है। पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' वैश्विक स्तर पर भाषा विज्ञान के गौरव का विषय है। यहां की अनेक भाषाएं साहित्य और शब्द भंडार की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध हैं और आपस में कई तरह से जुड़ी हुई भी हैं। इन सभी का लंबा इतिहास भी है। अनेक भारतीय भाषाएं संस्कृत मूल की हैं और उनके बीच निकट का रिश्ता है, परंतु औपनिवेशिक युग में अंग्रेजी भाषा को अंग्रेजों ने भारतीयों की मानसिक रूप से हत्या करने का औजार बनाया और अंग्रेजी का साम्राज्य स्थापित किया। गांधी जी के शब्दों में कहें तो मैकाले ने 'शिक्षा की जो बुनियाद डाली, वह सचमुच गुलामी की बुनियाद थी।' अंग्रेज बहुत हद तक अपने लक्ष्य को पाने में सफल भी हो गए। विचार, नीति और सिद्धांत का जो सांचा ढालकर उन्होंने हमें मुहैया कराया वह इस कदर हमारे मन-मस्तिष्क पर चढ़ा कि हम मूल भारत के विचार से अपरिचित होते चले गए। वहीं अंग्रेजी

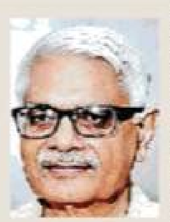

गिरीश्वर मिश्र

राष्ट्रनिर्माण के लिए समाज को अपनी भाषा के सार्थक उपयोग का अवसर एक स्वाभाविक और अनिवार्य शर्त होती है

को सहज और श्रेष्ठ भी मानने लगे। 'हिंद स्वराज' में गांधी जी का मार्मिक वाक्य है कि 'अंग्रेजी शिक्षा को लेकर हमने अपने राष्ट्र को गुलाम बनाया है।'

वर्ष 1941 में 'रचनात्मक कार्यक्रम' में गांधी जी लिखते हैं कि 'हमने अपनी मातृ भाषाओं के मुकाबले अंग्रेजी से ज्यादा लगाव रखा जिसका नतीजा यह हुआ कि पढ़े-लिखे और राजनीतिक दृष्टि से जागृत ऊंचे तबके के लोगों के साथ आम लोगों का रिश्ता बिल्कुल टूट गया और उनके बीच खाई बन गई। यही वजह है कि हिंदुस्तान की भाषाएं गरीब बन गई हैं और उन्हें पूरा पोषण नहीं मिला।' दूसरी ओर सरकारी प्रश्रय में अंग्रेजी को जीवन के मूलभूत में ऐसे स्थापित किया गया कि उसके औचित्य को लेकर किसी तरह की शंका न उठे। यह सब ऐसे ढंग से हुआ कि हमें इसकी अस्वाभाविकता का पता तक नहीं चला। अंग्रेजी का वर्चस्व हमारी नियति के साथ ऐसे जोड़ा गया कि उसका कोई विकल्प ही न रहे। हम लाचार होकर उसी का प्रयोग बनाए रखने पर विवश हो गए और इस फांस से निकलने का कोई मार्ग ही नहीं सूझ रहा है। न्यायपालिका का ही उदाहरण लें। आज भी उच्च और उच्चतम न्यायालय के लिए कानूनी कार्रवाई अंग्रेजी में ही करने की बाध्यता है। लोकतंत्र की आत्मा के विरुद्ध इस व्यवस्था से न्याय पाना पक्षपातपूर्ण है जो सबकी पहुंच में भी नहीं है।

राष्ट्रनिर्माण के लिए समाज को उसकी अपनी भाषा के सार्थक और समर्थ उपयोग का अवसर एक स्वाभाविक और अनिवार्य शर्त होती है। औपनिवेशिक काल में अंग्रेजी भाषा को प्रशासन, ज्ञान, कानूनी व्यवस्था, स्वास्थ्य आदि जीवन के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में स्थापित कर बढ़ावा दिया गया। इस प्रक्रिया में सदियों पुरानी समूची भारतीय ज्ञान परंपरा को 'पारलौकिक', 'गैर आधुनिक' और 'अप्रासंगिक' करार देते हुए विस्थापित और बहिष्कृत सा कर दिया गया। नई शिक्षा ने ज्ञानार्जन को नौकरी के अधीन कर दिया। अब विश्वविद्यालयों से अपेक्षा की जा रही है कि वे उद्योग जगत से पूछ-पूछ कर पाठ्यक्रम बनाएं। परीक्षा पास करने के साथ प्लेसमेंट भी जरूरी है। ज्ञानकेंद्र की उत्कृष्टता अंततः उस केंद्र के छात्रों को मिलने वाले वेतन पैकेज के आंकड़ों की मोहताज हो जाती है।

स्वराज की लड़ाई के बाद देश को राजनीतिक स्वतंत्रता तो मिली, पर वैचारिक स्वाधीनता को खोकर। कदाचित वैचारिक स्वतंत्रता पाना प्रकट रूप में स्वतंत्रता संग्राम का हमारा उद्देश्य भी नहीं था। बापू ने 1909 में लिखित 'हिंद स्वराज' में जरूर सभ्यता-विमर्श करते हुए हमारा ध्यान इस ओर भी खींचा था और तीस साल के बाद उन्हें विचारों में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस नहीं हुई। मगर प्रथम प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने ऐसी सोच को ही दकियानूसी मानते हुए सिरे से खारिज कर दिया था और दूसरी राह अपना ली। हमारा मानसिक संस्कार खंडित होता रहा और सोचने-विचारने की उधार की कोटियां हावी होकर हम पर राज करने लगीं। फलतः भारत में उच्च शिक्षा के जो केंद्र विकसित हुए वे ज्ञान की पाश्चात्य धारा को ही श्रेष्ठतर मानते हुए उसे ही अकुंठ भाव से आत्मसात करने में अपनी कृतार्थता समझने लगे। अनेक शिक्षा आयोगों की संस्तुतियों के बावजूद हमारी मानसिक गुलामी की यह प्रवृत्ति बरकरार रही और हम मौलिक प्रश्नों से कन्नी काटते रहे और शिक्षा की समस्याएं और विकट होती चली गईं। गांधी जी कहते थे कि 'अंग्रेजी की मोहिनी के वश होकर हम लोग हिंदुस्तान को अपने ध्येय की ओर आगे बढ़ने से रोक रहे हैं।' वह मानते थे कि 'समूचे हिंदुस्तान के साथ व्यवहार करने के लिए हमको भारतीय भाषाओं में से एक ऐसी भाषा की जरूरत है जिसे आज ज्यादा से ज्यादा देशवासी जानते हों और बाकी लोग भी जिसे झट से समझ सकें। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी ही ऐसी भाषा है।' आज जब देश बापू की डेढ़ सौवीं जयंती मनाने की तैयारी कर रहा है तब भाषा के लंबित प्रश्न पर विचार करना और औपनिवेशिक मानसिकता से उबरकर अंग्रेजी के घोषित साम्राज्यवाद से मुक्ति उन्हें एक सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

(लेखक महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विवि के कुलपति हैं)
response@jagran.com